शिक्षा की पारम्परिक व आधुनिक अवधारणा और शिक्षक की भूमिका

चित्रा सिंह*

समाज के सभी अंगों में शिक्षा की स्वीकार्यता के और समाज द्वारा शिक्षा के महत्व को जानने के बाबजूद शिक्षा के सैद्धान्तिक पहलू व व्यवहारात्मक पहलुओं में भारी अन्तर दिखाई देता है। हमारी आज़ादी के बाद शासन की ईमानदार कोशिशों के बावजूद सामान्य शिक्षा व्यवस्था के प्रति लोगों का भरोसा कम हुआ है। भारतीय शिक्षा आज़ादी के बाद दो अलग-अलग व्यवस्थाओं द्वारा संचालित होने लगी – एक वह जो सरकारी स्कूलों के रूप में थी और दूसरी वह जो निजी शिक्षण संस्थानों के रूप में सामने आयी। इस प्रकार आज़ादी के साथ ही भारतीय शिक्षा व्यवस्था दो भागों में बंट गयी और इस विभाजन ने ऐसी परिस्थितियों को जन्म दिया कि भारतीय समाज भी दो भागों में बंट गया। समाज का एक वह हिस्सा जो सरकारी स्कूलों में पढ़ता था और दूसरा वह जो निजी संस्थाओं में पढ़ता था। शिक्षा के इस विभाजन ने दो अलग-अलग भारत बना दिये इससे समाज में पहले से मौजूद ऊँच-नीच की भावना को और अधिक बल मिला तथा इस विभाजन में परम्परा व आधुनिकता के संघर्ष की परिस्थितियाँ भी पैदा कीं। पारम्परिक शिक्षा जो हमारी स्थानीय परिस्थितियों की उपज थी और जिसमें भारतीय जीवन शैली, भारतीय सामाजिक मूल्यों और आवश्यकताओं का समावेश था, एक ऐसी आयातित शिक्षा प्रणाली द्वारा धीरे-धीरे विस्थापित कर दी गयी, जो आधुनिक तो थी और इसमें बदलते समय की आवश्यकताओं के अनुरूप खुद को ढाल लेने की सामर्थ्य भी थी। किन्तु यह एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था थी जिसमें भारतीयता और उसके मूल्यों के प्रति आग्रह बहुत कम था। प्रस्तुत आलेख में इन दोनों परम्पराओं के द्वंद्व के परिपेक्ष्य में शिक्षक की भूमिका पर विचार किया गया है।

* *सहायक प्राध्यापिका*, क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, श्यामला हिल्स, भोपाल, मध्य प्रदेश 462013

पारम्परिक भारतीय शिक्षा का बुनियादी प्रयोजन अपने आपको जानने के साथ-साथ अपने समाज व समय को भी जानना था। जहां एक ओर 'आत्मानम्वृद्धि' (स्वयं को जानो) का दृष्टिकोण था वहीं 'साविद्या या विमुक्तये' (विद्या वह है जो मुक्त करती है) का घोष भी था। स्वयं को जानने से लेकर मनुष्य की सभी तरह के अज्ञान से मुक्ति हमारी परम्परा में शिक्षा का उद्देश्य रहा है। विद्यामृतश्नुते-विद्या अमरता की ओर ले जाती है, का ध्येय वाक्य तो हम सब जानते ही हैं।

पारम्परिक शिक्षा इस बात पर जोर देती थी कि जितना व्यक्ति स्वयं के बारे में जानेगा उतना ही वह समाज में अपनी भूमिका निर्वाह करने में सक्षम होगा। अपने गुणों और कमजोरियों को पहचान कर वह समाज के हित में उनके उपयोग के बारे में सोच पायेगा।

भारतीय पारम्परिक शिक्षा मनुष्य को विनयी बनना सिखाती थी और विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर अहंकार से नहीं वरन् विनय से भर उठता था, विद्या को विनय देने वाली समझा जाता था। इसीलिए कहा गया है 'विद्या ददाति विनयं।' पारम्परिक शिक्षा का आचार्य कहता था कि उसके जो आचरण अपनाने योग्य हों उन्ही का अनुसरण करना।

इसका एक अर्थ यह भी था कि गुरु भी संदिग्ध और विवादास्पद, यहाँ तक कि आलोचनीय, भी हो सकता था। यह वह परम्परा थी जहाँ प्रश्न करना जीवित व स्वतंत्र मनुष्य की पहचान माना जाता था। यह वह परम्परा थी जो मनुष्य व मनुष्यता को शिक्षा के केन्द्र में रखती थी। उपनिषद् का ऋषि कहता है 'ज्ञान को आत्मसात् करके अपनी संवेदना का अंग बनाना होता है। क्या सच है? यह जानना तो आसान है और एक क्षण में जाना भी जा सकता है पर उसे व्यवहार में उतारना कठिन है। इसके लिए साधना करनी होती है, अनुचिंतन करना होता है। अनिर्णय के क्षण आते हैं जिनमें अपने को संघर्ष करना पड़ता है। जीवन के कतिपय अनुभवों से मन खिन्न होता है तो सारा ज्ञान बेकार लगता है। ऐसे क्षणों में मन को स्थिर करके अपनी आस्था को दृढ़ बनाना होता है यही उपासना है, इसके बिना कुछ भी संभव नहीं।' इस प्रकार शिक्षा को उपासना बताते हुए आगे कहा गया है कि ज्ञान तो किसी भी गुरु से प्राप्त किया जा सकता है, पर अभ्यास तो स्वयं करना होता है, ज्ञान तो कर्म के भीतर से ही फूटता है। किताब पढ़ने से अर्जित ज्ञान, ज्ञान का पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) है, ज्ञान नहीं। इसीलिए इस परम्परा में शिक्षा कर्म को दान कहा गया है। शिक्षा-दान को सबसे बड़ा दान मानकर गुरु की महिमा गायी गई। इसलिए शिक्षा का भारत में वह अर्थ नहीं था जो पश्चिम की सभ्यता में प्रचलित है। शिक्षा यहाँ एक शास्त्र रही है।

वेदों में शिक्षा के तीन आचार्यों का उल्लेख आता है- मातृमान् पितृमान् आचार्यवान पुरुषों वेदः। माँ पहला आचार्य है, पिता दूसरा और तीसरा आचार्य वह है जो माता-पिता के बाद आता है इनसे सीखकर ही मनुष्य ज्ञानवान होता है। उपनिषदों के काल में तैतरीय उपनिषद् के तीन भागों में से प्रथम भाग को 'शिक्षावल्ली' कहा गया है जिसका अर्थ है - स्नातक को दिया जाने वाला आचार्य का दीक्षान्त प्रवचन। इसमें स्नातक के व्यक्तित्व की परिपूर्णता का भाव या विचार केन्द्रीय था। शिक्षा का अर्थ तब ज्ञान नहीं बल्कि मनुष्य की परिपूर्णता से था। शिक्षा मात्र

लिखने-पढ़ने की कला नहीं थी, भारतीय परम्परा में शिक्षा का अर्थ प्रज्ञा, शील और समाधि से था। जिसका मतलब सम्यक् विवेक, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण था। केवल कला, कौशल, ज्ञान और विज्ञान का अध्ययन ही इसके अन्तर्गत नहीं आता था। परम्परा में ये सब शिक्षा से भिन्न माने गये थे। ये विधाएं मात्र थीं जिनका सम्बन्ध ज्ञानमूलकता से था। उपनिषद् का ऋषि यह भी कहता है कि ज्ञान को उसकी सत्ता में कर्म करके ही पाया जा सकता है। किताबी ज्ञान सिर्फ सूचना है ज्ञान नहीं। शायद इसी बात को ध्यान में रखते हुए वाराणसी के आस-पास के गाँवों में यह मज़ाक चलता था कि संस्कृत के पण्डित पोथा-शास्त्र तो जानते हैं पर पालक और पुदीने में अन्तर नहीं कर पाते।

भारतीय परम्परा गुरु-शिष्य आधारित रही है और इसमें गुरु स्वयं को अपने शिष्य में व्यक्त करता था। इस परम्परा में प्रत्येक शिष्य की गुणवत्ता, योग्यता, दक्षता और सामर्थ्य का निर्णय आचार्य करता था। हम विद्या या ज्ञान को इतना पवित्र व दैवीय मानते थे कि हमारे ज्ञान-दान की अपनी शर्तें रही हैं। कहा गया है कि कन्या व विद्या कुपात्र को नहीं देनी चाहिए। भारत में शिक्षा का चरम आदर्श दीपक था। इसलिए यहाँ के आचार्यों ने अलंकार की भाषा में इसे 'दीपदीप्त दीक्षा' कहा, एक शिष्य में ज्ञान की इतनी लौ आ जाए कि उससे दूसरे को प्रेरित किया जा सके, यही इस परम्परा का लक्ष्य था।

भारतीय परम्परा के इन शास्त्रीय पक्षों का भारत के व्यवहारिक जीवन में भी दखल था व ये सब बातें केवल सैद्धान्तिक नहीं थीं इनका प्रमाण ब्रिटिश शासन काल में 18वीं सदी के उत्तरार्ध एवं 19वीं सदी के आरंभ में तैयार किये गये एडम के प्रतिवेदन से मिलता है। जिसमें कहा गया है कि 'भारत के प्रत्येक गांव में विद्यालय हैं जहाँ पूरी मितव्ययता के साथ बिना किसी सरकारी सहायता के स्वयं गांव वालों के योगदान से शिक्षा दी जाती है'। इस शिक्षा पद्धति में कोई सरकारी बोर्ड नहीं था। स्कूलों के सामने शासन से सम्बद्धता का प्रश्न नहीं था। यह व्यवस्था ऊँची, लचीली, तर्क संगत व मितव्ययी होने के साथ लोकपरायण और उदार भी थी। शिक्षा के केन्द्र में अध्यापक था और उसकी स्वाधीनता से छेड़-छाड़ करने की कोशिश न तो तत्कालीन समाज करता था, न शासन। विद्यार्थी को अपनी योग्यता और पात्रता प्रमाणिक करनी पड़ती थी। आचार्य के कुल में प्रवेश पाने के बाद अध्यापक व छात्र का संबंध एक परस्पर यात्रा के सहयात्री जैसा होता था। इस परम्परा में शिष्य का अर्थ आचार्य की फोटोकॉपी हो जाना नहीं वरन् आचार्य की सीमाओं का विस्तार करना और जरूरत पड़ने पर नई मर्यादाओं का विधान करना भी था।

आधुनिक भारत और उसकी शिक्षा व्यवस्था

परम्परागत शिक्षा जैसी भी रही हो लेकिन इसका उद्देश्य मानव मात्र का कल्याण ही रहा था। इस परम्परा से स्वयं को पृथक कर हमने शिक्षा की कैसी परम्परा तैयार की है, उसका प्रमाण आज की परिस्थितियां स्वयं हैं। आज प्रतिस्पर्धा के व्यूह को ही जीवन और शिक्षा का परम आदर्श माना जा रहा है। इस व्यवस्था में प्रश्न पूछना, जो कि छात्र की आजादी और बौद्धिकता का पहला लक्षण है और जो उसके मनुष्य होने की भी पहली

पहचान है, को आज दुर्गुण, अनुशासनहीनता, विद्रोह और पूरे समाज के लिए घातक माना जा रहा है। जबकि हमारा ध्येय वाक्य ही 'वादे वादे जायते तत्वबोध:' (तर्क वितर्क से ही तत्व ज्ञान की प्राप्ति होती है) रहा है। आज की शिक्षा न केवल हमें अपने शत्रुओं से असंवेदित रहना सिखाती है और न केवल हमें शेष दुनिया से काटती है, बल्कि स्वयं अपने समाज के भीतर हमें एक संवेदनहीन, अचिन्तनशील नागरिक बनना सिखाती है। हमारे जीवन व्यवहार के कई स्तरों पर इस तरह की मानसिकता की छाप बहुत साफ देखी जा सकती है। यह हमें एकान्तिक और अपने स्वार्थों को सर्वोपरि समझने वाला, अपनी प्रतियोगिता शक्ति को ही सबसे अधिक वरीयता देने वाला व्यक्ति बनाती है। इस शिक्षा के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह नहीं है कि मनुष्यता की रक्षा कैसे हो, इसके विपरीत ये बेबुनियाद सिद्धांत हमारी मानसिकता में बैठा दिया गया है कि शिक्षा और अर्जित ज्ञान का मतलब सिर्फ अपनी सुख सुविधा के स्वार्थों को साधना है। जबकि शिक्षा का मूलभूत आशय है व्यक्तित्व निर्माण और व्यक्तित्व निर्माण का प्रयोजन है-एक मूल्य केंद्रित आदर्श समाज समूह।

आधुनिक शिक्षा व्यवस्था ने 'व्यक्तित्व बनाम कैरियर' का प्रश्न उठाते हुए अब कैरियर को ही व्यक्तित्व मानना और प्रचारित करना शुरू कर दिया है। जबकि व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति की उन अन्तर्निहित शक्तियों से है जो किसी आसन विशेष से ऊँची-नीची नहीं होती। व्यक्तित्व न तो किसी के द्वारा सौंपा जा सकता है और न ही छीना जा सकता है। वह हमारे भीतर की स्वभाविक ताकतों का सहज विकास और प्रकाश है। इसके विपरीत कैरियर एक ओढ़ी हुई चीज है। कैरियर को गढ़ना पड़ता है, व्यक्तित्व को विकसित करना पड़ता है। व्यक्तित्व का एक अर्थ प्रश्नों से भरा जीवन है। ये प्रश्न ही हैं जो एक ठहरे हुए समय और समाज को नई गति और दिशा प्रदान करते हैं। कैरियर प्रश्न करना नहीं सिखाता, खोजे गये उत्तरों के साथ अनुशासन में रहने की कला सिखाता है। अगर कैरियर जीवियों की संख्या अधिक हुई तो सामाजिक भविष्य का सपना चूर-चूर हो जाता है। वर्तमान शिक्षा कैरियर जीविता सिखाती है। वह यह नहीं बताती की शिक्षा का असली उद्देश्य सफलता नहीं सार्थकता है। उन मूल्यों को सामाजिक जीवन में उतरते देखना है जिससे मनुष्यता की पहचान और रक्षा संभव हो सके और यह कि शिक्षा का काम एक ऐसे मानवीय विवेक का उदय भी है जो अपने चारों ओर कि असमंजसपूर्ण, संशयकारी और जटिल परिस्थितियों के बीच हमें उन समाधानकारी उत्तरों तक पहुँचा सके जो व्यक्ति से लेकर समूह तक के लिए आश्वस्तकारी हों। 'अपनी-अपनी करनी अपना-अपना भोग' उत्कृष्ट शिक्षा का मुहावरा कभी नहीं बन सकेगा। एक के द्वारा किये गये कर्म का जब समूचा समाज सुखद भोग करे तभी शिक्षा का बुनियादी प्रयोजन सिद्ध होगा। किन्तु इसके लिए शिक्षा के विद्यमान ढांचे पर क्रांतिकारी निगाह डालनी होगी।

समकालीन शिक्षा गतिशीलता के बजाय ठहराव में भरोसा करती है। इसमें न तो अकादमिकता का सम्मान है, न अनुशासन और दायित्वपालन का। निष्पक्षता, पारदर्शिता और सत्यता इसका गुण नहीं है। गांधी जी इस शिक्षा को लेकर काफी पहले से कई सवाल उठाते रहे। उन्होंने

9 सितम्बर 1928 में 'नवजीवन' (गुजराती) में लिखा था 'चरित्र से पहले अक्षर ज्ञान को रखा जायेगा तो वह उतना ही शोभा पायेगा और सफल होगा, जितना गाड़ी के पीछे घोड़ों को रखकर उसकी नाक से गाड़ी ढकेलवाने की क्रिया शोभा देगी'। उनके अनुसार भारत जैसे देश में हमें विद्याभ्यास की रचना और कल्पना अलग तरह से करनी होगी। एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसमें शिक्षा का उद्देश्य पैसा कमाना नहीं बल्कि अच्छा इंसान बनाना और देश सेवा करना हो। लेकिन आज़ादी के बाद शिक्षा का कैसा पश्चिमीकरण किया गया इसका अनुमान भारतीय समाज विज्ञान के पितामह कहे जाने वाले एम. एन. श्रीनिवास के ग्रंथ 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' के निम्न उद्धरण से किया जा सकता है। 'राजनैतिक व सांस्कतिक क्षेत्र में पश्चिमीकरण ने न केवल राष्ट्रीयतावाद को, बल्कि पुनरुत्थान, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, तीव्रतर भाषायी चेतना ओर प्रादेशिकता को जन्म दिया है, परिस्थिति इसलिए और भी हैरानी में डालती है कि पुनरुत्थानवादी आन्दोलन अपने विचारों के प्रचार के लिए पश्चिमी ढंग के स्कूल-कॉलेजों, पुस्तक-पुस्तिकाओं और पत्रिकाओं का प्रयोग करते हैं।'

यही नहीं परीक्षा प्रणाली का हाल तो और भी बुरा है। परीक्षा में पूछे जाने वाले प्रश्न ज्ञान से खिसक कर सूचनाओं पर आधारित हो चुके हैं। हमारी कक्षाएं चिन्तन की प्रक्रिया को बढ़ावा नहीं देतीं। उसका सारा जोर सूचनाओं के संग्रह पर है। आज सबसे अच्छा व मेधावी विद्यार्थी वह है जिसके पास सबसे ज्यादा सूचनाएं हैं। शिक्षा को प्रतिशतों के आधार पर मापने के बजाय मनुष्यता के विकास के आधार पर मापना होगा। 'याद करने' का कौशल और सामर्थ्य ही सबसे बड़ी विद्या है यह नहीं बल्कि यह जानना होगा कि ज्ञान एक सांस्कृतिक कुंजी है और शिक्षा उसकी नियोजिका है। नवनिर्माण, नवचिन्तन और सड़े-गले के प्रति विद्रोह ये वे मूल्य हैं जो शिक्षा को ही नहीं समाज को भी मूल्यपरक बनायेंगे।

सूचना के बाद ज्ञान आता है और ज्ञान से चिन्तन की ओर बढ़ा जाता है। चिन्तन से प्राप्त ज्ञान बोध कहलाता है। लेकिन हमारे शिक्षक व शासन स्वाधीन चिन्तन करने वालों को विद्रोही की श्रेणी में रखते हैं। वे यह नहीं समझते कि शिक्षा अगर एक सांस्कृतिक आचार है और इसी रूप में मूल्य है तो सबसे पहले इसे स्वस्थ करना होगा। यह सोचना होगा कि शिक्षा व्यक्ति के लिए है या सामाजिक लक्ष्यों के लिए व्यक्ति का शिक्षण है? यह सवाल भी उठेगा कि इसका सामाजिक लक्ष्य क्या है? वह समानता, सर्वधर्म सदभाव, सहिष्णुता, भाईचारा और अहिंसा सिखाती है या गला-काट स्पर्धा और सामाजिक बुराइंयों को जस की तस स्थिति में रखने का जरिया है।

आजकल मूल्यों की शिक्षा या मूल्य आधारित शिक्षा की बात बहुत की जा रही है। यद्यपि भारत में मूल्य शब्द नया है, एक रूप में देखे तो यह शब्द हमारा है ही नहीं। हमारे यहां एक दूसरा शब्द पहले से इस सन्दर्भ में चला आ रहा है वह है 'आचार विचार'। यही अच्छी शिक्षा का मानदण्ड था, हमारी परम्परा इसे ही महत्व देती आई है। मूल्यों की शिक्षा अनिवार्य तौर पर छात्रों को दी जाए, यह मूल प्रस्ताव 1999 में केन्द्र सरकार द्वारा गठित 'चव्हाण कमेटी' का था। जिसने संसद में इसे प्रस्तुत करते हुए यह दलील

दी थी कि विद्यार्थियों को सभी धर्मों की मूलभूत बातों, उनमें निहित मूल्यों और इनके तुलनात्मक अध्ययन से परिचित कराने की प्रक्रिया विद्यालय में माध्यमिक स्तर से शुरू कर विश्वविद्यालयीन स्तर तक जारी रहना चाहिए। लेकिन इसे प्रतिगामी कदम बताकर ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। नतीजतन आजकल स्कूल-कॉलेज भीड़ पैदा करते हैं। वे कोई नया समाज बनाने या पुराने समाज को दुबारा उसी ताकत के साथ संगठित करने की कोशिश नहीं करते।

किसी भी समस्याग्रस्त समाज के लिए शिक्षा का मतलब यही हो सकता है कि हम अपने आस पास की दुनिया के प्रति उस माँ की तरह बेहद जिम्मेदार हो जाएं जो अपने कई बच्चों के बीच उनके सुख-दुख का ख्याल रखने में ही अपना सुख समझती है। गांधीजी ने 'हरिजन' में एक सवाल उठाया था कि क्या आप विद्या केवल नौकरियों के लिए प्राप्त कर रहे हैं? विद्या तो वही है जिससे मुक्ति मिले और शिष्टाचार आए। हम शिक्षा को स्कूलों से अलग करके उन्हें मूल्यों को ढालने वाले कारखानों में तब्दील न करें। उन्हें मानव संसाधन तैयार करने वाले केन्द्र भी न समझे। आज तो ऐसा लगता है कि वे सरकारी और गैर-सरकारी मांगों की पूर्तियों के ठिकाने भर हैं। जो शिक्षा हमें अधिक स्वार्थी और अधिक संकीर्ण बनाये उसे शिक्षा कैसे कहा जायेगा। फिर शिक्षा के जरिये जो कुछ छात्र को प्राप्त होता है वह ज्ञान सिर्फ एक आदमी की कमाई नहीं है बल्कि सदियों से मनुष्य द्वारा किये गये विकास का दस्तावेज है।

इस वक्त भारतीय समाज पर सबसे तेज बुखार वैश्वीकरण के बहाने पश्चिमीकरण का दबाव और उसके वर्चस्व को बनाये रखने की कोशिशों का है। हमारी शिक्षा के सामने यह प्रश्न होना चाहिए कि वैश्वीकरण और उदारीकरण की मर्यादायें भारत के संदर्भ में क्या होगी? शिक्षा में आज मानवीय बोध को बचाने और जगाए रखने की बेहद जरूरत है।

संदर्भ

इस आलेख में दिये गये प्रचलित संस्कृत वाक्यांश वेद, शतपथब्राह्मण, उपनिषद, महाभारत, हितोपदेश आदि से लिये गये हैं।.